THE TIMES OF INDIA

Date:12-07-21

Population bogey

UP's new policy and draft bill are conceptually weak & disruptive. No good can come of them

TOI Editorials

UP's population policy for 2021-30 unveiled by CM Yogi Adityanath wants to incentivise couples to stick to a two-child norm. It's an idea whose time has long gone. The past decade has witnessed a sharp fall in India's total fertility rates, even in UP, India's most populous state. NFHS-4 data from 2015-16 indicates UP's TFR fell to 2.7 in 2015-16 from 3.8 ten years prior. Sample Registration System report for 2018 pegged UP's TFR slightly higher at 2.9 in 2018 but even this was a fall of 23.1% in a decade, bettering the national TFR decline of 18.5%.

Falling TFRs are massive demographic changes catalysed by education of girls, economic growth, migration, falling infant mortality rates and higher institutional births. All happened without drastic population control policies. By all indications, UP will also hit replacement TFR levels of 2.1 in due course like other states.

Apart from being unnecessary, the approach taken by the UP Law Commission's draft Population (Control, Stabilisation and Welfare) Bill is also dangerous. It has prescriptions portending a bureaucratic nightmare for ordinary citizens, especially the poor. It requires devoting energies to identifying state employees and the general public who qualify for a raft of special incentives. Disincentives barring access to welfare schemes and even the PDS for larger families, though not retrospective, poses exclusion risks, massive corruption and social discrimination.

Badly conceived laws which trust bureaucracy with inordinate control over people's lives are a recipe for disaster. Ironically, the poor, and especially UP's rural areas where TFR is 3.0 against 2.1 in cities, will be penalised for structural deficiencies in schooling, public healthcare, and employment opportunities. The potential for widespread social disruption can even undermine any political gains Adityanath may expect in the UP assembly polls from the draft bill's ample references to polygamy. UP should junk this idea.

THE HINDU

Date:12-07-21

Cooperative spirit

The new Ministry should seek to be a catalyst, and not the command centre, of the sector

Editorial

Alongside the state and the market, cooperatives play a vital role in the country's development but are seldom the focus of policy planning. The creation of a new Union Ministry to oversee the cooperatives sector will redeem it from negligence, according to the Government. Critics fear that this Ministry is purposed to concentrate even more powers in the hands of the Centre. Cooperatives are dominant in agriculture, credit and marketing, but not limited to those. Some are big — IFFCO has around a third of the market share in fertilizers. In milk, cotton, handlooms, housing, edible oils, sugar and fisheries, they are formidable. As market conditions are evolving, cooperatives in States such as Kerala have got into complex operations: running IT parks and medical colleges. More avenues for expansion, such as insurance, remain untapped and the regulatory regime must evolve in step. The legal architecture of the sector began evolving since 1904 under colonial rule, and in 2002, the Multi State Cooperative Societies Act was passed, taking into account the challenges arising out of liberalisation. Considering the fact that cooperatives fall in the State list of the Constitution, the Centre will have to innovate to provide legal sanctity for the new Ministry. A separate Ministry can marshal the diffused capacity of the sector, however.

That said, this move will turn disastrous if the attempt is to appropriate the political capital of the sector, which is significant. Cooperatives are not meant to operate by the market logic of maximising profits but to share the benefits to all stakeholders equitably. Though not uniform across India, cooperatives have made significant contributions in poverty alleviation, food security, management of natural resources and the environment. True, the sector has become an instrument of patronage and pilferage. Mismanagement and corruption destroyed the sector in some States. The potency of cooperatives as an apparatus of political control is personally known to Minister-in-charge Amit Shah, once president of a district cooperative bank. Besides serving localities and segments that markets might ignore, cooperatives are also effective in mediating politics at the local level, outside of the parliamentary system. Despite regulatory oversight by the RBI and States, there is considerable autonomy for the sector which is often misused. The remedy is not an overarching Ministry and diktats from Delhi. The premise of a cooperative is that decisions are made by those affected by them. The case for transparency and efficiency in the sector is strong; that goal must be pursued not by scaring the very soul of the sector but by advancing the cooperative spirit. The new Ministry could indeed be a catalyst, but it must not fashion itself as a command authority.

Date:12-07-21

दैनिक जागरण

नई करवट लेती दलित राजनीति

डॉ. एके वर्मा, (लेखक सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ सोसायटी एंड पॉलिटिक्स के निदेशक और राजनीतिक विश्लेषक हैं)

बीते दिनों बिहार और उत्तर प्रदेश में घटित घटनाएं दलित राजनीतिक विमर्श में नए रुझान का संकेत करती हैं। इसमें एक प्रश्न यही उभरा है कि क्या अब दलितों को अस्मिता से अधिक आकांक्षाएं आकर्षित कर रही हैं? बिहार में दलित राजनीति की अगुआ मानी जाने वाली लोक जनशक्ति पार्टी में आंतरिक उठापटक चल रही है। वहीं उत्तर प्रदेश में रामअचल राजभर और लालजी वर्मा जैसे कई कई दलित नेताओं को मायावती ने पार्टी से निकाल दिया। यह महज एक इत्तेफाक है या इसके पीछे कोई 'अंडर करेंट' है? विगत 74 वर्षों में बाबू जगजीवनराम को छोड़ कोई दलित नेता राष्ट्रीय स्तर पर पनप नहीं पाया। उत्तर प्रदेश में मायावती और बिहार में रामविलास पासवान को आंशिक सफलता ही मिली। वैसे मायावती ने 2007 में प्रभावी 'सोशल इंजीनियरिंग' द्वारा समावेशी राजनीति की ओर कदम बढ़ाया और सभी वर्गों के वोट से प्रदेश में सरकार बनाई। हालांकि अपने प्रयोग को वह बहुत आगे नहीं ले जा सकीं और राष्ट्रीय राजनीति की राह में भटक गईं। वहीं पासवान स्वयं निर्वाचित होते रहे, पर बिहार में दलितों को लामबंद नहीं कर सके और पासी-समाज तक ही सीमित होकर रह गए। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कोई दलित नेता राष्ट्रीय राजनीति तो दूर अपने प्रदेश में ही पूरी तरह स्थापित क्यों नहीं हो पाता? इसके तीन कारण तो बिल्कुल स्पष्ट हैं।

पहला यही कि दलित समाज बेहद विभक्त है। उसकी आंतरिक सामाजिक संरचना में उतना ही भेदभाव है जितना बाह्य समाज में। जाटव और पासी, पासी और वाल्मीकि, वाल्मीकि और डोम और ऐसे ही अनेक दलित समुदाय एक मंच पर नहीं आते। अधिकांश विमर्श दलित बनाम गैर-दलित पर ही केंद्रित रहता है। विश्लेषक 'दलित राजनीति' की बात करते हैं, लेकिन उनके विश्लेषण गलत हो जाते हैं, क्योंकि वे दलितों को समरूप समाज मानकर चलते हैं। कोई भी दलित या गैर-दलित नेता दलितों की आंतरिक सामाजिक संरचना की पदसोपानीयता और विसंगतियों को नहीं उठाता। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक 'दलित राजनीति' केवल सहयोगी राजनीति के रुप में ही क्रियाशील हो पाएगी, 'स्वायत्त-राजनीति' के रूप में नहीं।

दूसरा कारण यही है कि दलित समाज की आंतरिकपदसोपानीयता उसे समरूप समाज के रूप में लामबंद नहीं होने देती। यदि उप्र में जाटव केंद्रित दलित राजनीति है तो बिहार में पासी या मुसहर केंद्रित। पंजाब में सर्वाधिक 32 फीसद दलित हैं, लेकिन कोई दलित राजनीति की बात नहीं करता? कांशीराम तो होशियारपुर, पंजाब से थे। फिर भी वह वहां दलितों में पैठ नहीं बना सके? कारण स्पष्ट है कि वहां दलित समाज वाल्मिकी, रविदासी, कबीरपंथी, मजहबी सिख आदि में बंटे हुए हैं, जिनमें रोटी-बेटी का संबंध भी नहीं होता। क्या ऐसे विभक्त समाज में दलितों को लामबंद कर 'अस्मिता' आधारित राजनीति हो सकती है? क्या इसीलिए मायावती को पंजाब में आगामी विधानसभा चुनाव के लिए अकाली दल के साथ गठबंधन करना पड़ा? संभवत: इसी कारण भाजपा ने तुरुप का पत्ता चला है। भाजपा ने राज्य में दलित मुख्यमंत्री बनाने की घोषणा की है। यदि दलितों की राजनीतिक लामबंदी और सशक्तीकरण से उनके आंतरिक सामाजिक भेदभाव को खत्म किया जा सके तो यह घाटे का सौदा नहीं होगा।

तीसरा पहलू यही है कि दलित राजनीति स्वभाव से ही अस्मिता अर्थात 'पहचान की राजनीति' को स्वीकार करती है। किसी दल पर जब यह ठप्पा लग जाता है कि वह दलित अस्मिता को ही तरजीह देता है तो समाज के अन्य वर्ग उससे कटने लगते हैं। इससे

समावेशी राजनीति की संभावना खत्म हो जाती है। मायावती ने यह मिथक 2007 में उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में तोड़ा जब उन्होंने सोशल इंजीनियरिंग द्वारा 'सैंडविच' गठबंधन बनाया। इसमें उन्हें सैंडविच के दो छोर की तरह न केवल ब्राह्मणों और दलितों का समर्थन मिला, वरन अंदरूनी फिंलग के रूप में समाज के अन्य वर्गों का भी समर्थन मिला। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में व्याख्यान के दौरान मायावती की सोशल इंजीनियरिंग के प्रति मुझे श्रोताओं में काफी उत्सुकता, आशा और रोमांच दिखा। उनमें मायावती को भावी राष्ट्रीय नेता के रूप में देखने की इच्छा थी, लेकिन मायावती अपनी सोशल इंजीनिर्यरग को आगे न ले जा सकीं। वह अस्मिता की राजनीति और समावेशी राजनीति में समन्वय न कर सकीं। दलितों को लगा कि उनकी 'अपनी' सरकार बनने के बावजूद वे सत्ता से बाहर हो गए, क्योंकि मायावती ने ब्राह्मणों, मुस्लिमों आदि को सत्ता में ज्यादा भागीदारी दे दी थी। वहीं से दलितों का 'अस्मिता' से मोहभंग हो गया और उन्हें अपनी आकांक्षाएं अधिक महत्वपूर्ण लगने लगीं। पिछले एक-डेढ़ दशक में यह प्रवृत्ति बढ़ी है और आज दलित समाज अस्मिता से ऊब चुका है। उसे अब अपनी आकांक्षाएं पूरी करनी हैं।

इससे भारतीय राजनीति में नई संभावनाएं बनी हैं। दलित समाज ने अतीत में जैसे कांग्रेस को छोड़ा, उसी की पुनरावृत्ति वह आज दलित पार्टियों के साथ कर रहा है। कांग्रेस में दलितों की न कोई पहचान थी, न सत्ता में भागीदारी, न ही नेतृत्व में कोई प्रतिनिधित्व। दलित पार्टियों में उन्हें पहचान तो मिली, पर ये पार्टियां सत्ता से कोसों दूर हैं। यानी वे दलित आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असमर्थ हैं। इसी कारण दलित समाज और राजनीति में कशमकश है जिससे आज का दलित सत्ता की कुंजी रखने वाले दल भाजपा की ओर आकृष्ट हो रहा है। देश में एक 'भाजपा सिस्टम' उभर रहा है जो सत्ता पर वैसा ही एकाधिकार चाहता है जैसा कभी कांग्रेस का था।

अभी तक दलों की सोच थी कि दलितों का सामाजिक सशक्तीकरण होगा तो उनका राजनीतिक सशक्तीकरण स्वत: हो जाएगा। भाजपा ने इस सोच को उलट दिया है। वह दलितों के राजनीतिक सशक्तीकरण से ही उनका सामाजिक सशक्तीकरण करना चाहती है। इससे न केवल उनका राजनीतिक सामाजिक सशक्तीकरण होगा, वरन भाजपा मजबूत होगी और हिंदू समाज के विभाजन की प्रवृत्ति भी घटेगी। इस प्रयोग से आज उप्र के लगभग सभी दलित विधायक और दलित सांसद भाजपा के हैं, जो प्रमाणित करता है कि दलित राजनीति करवट ले चुकी है और अस्मिता की दीवार तोड़ दलित आकांक्षाएं हिलोरें मार रही हैं।

Date:12-07-21

शिक्षा को चाइए तकनीक का सहारा

अमिताभ कांत, (लेखक नीति आयोग के सीईओ हैं)

देश में स्कूली शिक्षा इन दिनों कठिन चुनौतियों का सामना कर रही है। हालांकि यह क्षेत्र कोविड-19 महामारी से पहले भी पढ़ाई के विकट संकट से जूझ रहा था। तब दस साल की उम्र वाले दो में से एक बच्चे में पढ़ने की बुनियादी दक्षता की कमी थी। महामारी ने इस समस्या को और बढ़ा दिया है, क्योंकि 15.5 लाख स्कूल भौतिक रूप से बंद हो गए हैं। इससे 24.8 करोड़ से अधिक छात्र एक वर्ष से अधिक समय तक कक्षीय पठन-पाठन से वंचित हैं। अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के एक अध्ययन में पाया गया है कि स्कूलों के बंद हो जाने के चलते प्राथमिक विद्यालयों के 82 से 92 प्रतिशत छात्रों ने कम से कम एक गणितीय और भाषा कौशल खो दिया है। यह स्थिति शिक्षा में तकनीक को एकीकृत करने की आवश्यकता पर बल दे रही है। इससे हर बच्चे की शिक्षा तक पहुंच बढ़ाने में मदद मिलेगी। यद्यपि केंद्र सरकार और राज्य सरकारों ने रेडियो और टेलीविजन कार्यक्रमों, लाइव व्याख्यानों के साथ-साथ ऑनलाइन एप्लीकेशंस के माध्यम से दूरस्थ शिक्षा और अध्ययन की निरंतरता बनाए रखने के लिए कई प्रयोग किए हैं, परंतु इस दिशा में अभी भी कुछ चुनौतियां बनी हुई हैं। शिक्षा की वार्षिक स्थिति रिपोर्ट (एएसईआर)-2020 से पता चला है कि घरेलू स्तर पर लगभग 60 प्रतिशत छात्रों के पास ही टेलीविजन और स्मार्टफोन की सुविधा उपलब्ध है।

ऐसे में एक एडु-टेक (तकनीक संचालित शिक्षा) नीति की अनिवार्यता तेजी से स्पष्ट होती जा रही है, ताकि प्रत्येक बच्चे को 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जा सके। वैसे हमारी नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी)-2020 शिक्षा के हर स्तर पर तकनीक को एकीकृत करने की बात करती है। इसके लिए एक स्वायत्त निकाय के रूप में राष्ट्रीय शिक्षा प्रौद्योगिकी मंच (एनईटीएफ) की स्थापना करने की परिकल्पना भी की गई है। वास्तव में भारत तकनीक आधारित संरचना, बिजली और सस्ती इंटरनेट कनेक्टिविटी तक पहुंच के साथ इस दिशा में छलांग लगाने के लिए तैयार है, जिसे डिजिटल इंडिया जैसे प्रमुख कार्यक्रमों और शिक्षा मंत्रालय की पहल से प्रोत्साहन मिल रहा है। इसके तहत स्कूली शिक्षा के लिए डिजिटल अवसंरचना (दीक्षा) नामक ओपन सोर्स लर्निंग प्लेटफॉर्म तैयार किया गया है, जो दुनिया की सबसे बड़ी शिक्षा प्रबंधन सूचना प्रणालियों (ई-एमआइएस) में से एक है। इसमें प्रत्यक्ष रूप से व्यापक संभावनाएं नजर आ रही हैं।

एडु-टेक नीति के चार प्रमुख उद्देश्य जैसे-वंचित समूहों की शिक्षा तक पहुंच प्रदान करना, शिक्षण, अध्ययन और मूल्यांकन की प्रक्रियाओं को सक्षम बनाना, शिक्षक प्रशिक्षण को सुगम बनाना, शासन की प्रणालियों-नियोजन, प्रबंधन और निगरानी की प्रक्रियाओं में सुधार करना होना चाहिए। इस पर आगे बढ़ने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना होगा। जैसे-तकनीक एक उपकरण है, रामबाण

नहीं। इसका उपयोग अध्ययन की सेवा में होना चाहिए। इसके लिए एक योजना बनाई जानी चाहिए। इसके बगैर डिजिटल संरचना प्रदान करने में जोखिम है। तकनीक स्कूलों को प्रतिस्थापित नहीं कर सकती है या शिक्षकों की जगह नहीं ले सकती है। यह शिक्षक बनाम तकनीक नहीं, बल्कि शिक्षक और तकनीक है। तकनीकी समाधान तभी प्रभावशाली होते हैं जब इन्हें शिक्षकों द्वारा अपनाया जाता है और प्रभावी ढंग से इनका लाभ उठाया जाता है।

वैसे भी आज भारत में एडु-टेक का बाजार तेजी से बढ़ रहा है। इस क्षेत्र में अभी 4,500 से अधिक स्टार्ट-अप काम कर रहे हैं। इनका कुल बाजार मूल्य करीब 70 करोड़ डॉलर है। अगले 10 वर्षों में इसका आकार 30 अरब डॉलर पर पहुंच जाने का अनुमान है। जमीनी स्तर अरुणाचल प्रदेश के नामसाई जिले में 'हमारा विद्यालय' और असम का 'करियर मार्गदर्शन' पोर्टल छात्रों की पढ़ाई में सहायक बनकर उभर रहे हैं। गुजरात में 'समर्थ' लाखों शिक्षकों को ऑनलाइन माध्यम से प्रशिक्षित कर रहा है। झारखंड का 'डिजीसाथ' अभिभावकों-शिक्षकों-छात्रों के संबंधों में मजबूती ला रहा है। हिमाचल प्रदेश की 'हर घर पाठशाला' बच्चों को डिजिटल शिक्षा प्रदान कर रही है। उत्तराखंड का सामुदायिक रेडियो 'बाइट' प्रारंभिक पठन को बढ़ावा दे रहा है। मध्य प्रदेश का 'डिजीएलईपी' विद्यालयों में शैक्षणिक सामग्री वितरित कर रहा है। केरल की 'अक्षरवृक्षम पहल' बच्चों का कौशल विकास कर रही है।

देश में एडु-टेक को बढ़ावा देने के लिए कई मोर्चों पर एकसाथ कदम उठाने की आवश्यकता है। सबसे पहले देश में एडु-टेक की पहुंच और प्रभाव का आकलन करने के लिए एक खाका तैयार किया जाना चाहिए। इसके अंतर्गत अवसंरचना, शासन, शिक्षकों एवं छात्रों की चुनौतियों की पहचान की जानी चाहिए। लघु से मध्यम अवधि में, इन चुनौतियों को दूर करने के लिए सभी हितधारकों (छात्र, शिक्षक, स्थानीय समुदाय, प्रशासक, क्षेत्र विशेषज्ञ) को शामिल करते हुए नीति निर्माण और योजनाएं बनाई जानी चाहिए। सार्वजनिक-निजी भागीदारी का मॉडल इसमें सहायक हो सकता है। देश में मौजूद डिजिटल खाई को पाटने पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। दीर्घ अवधि में, जब सभी योजनाएं पूरे देश में एकसमान रूप से जमीन पर उतर जाएं तो सभी शैक्षणिक सामग्रियों का भंडारण और समय-समय पर उनका परिष्करण करते रहना चाहिए।

कुल मिलाकर आज शिक्षा को तकनीक के सहारे की जरूरत है। एडु-टेक नीति देश की शिक्षा तकनीक को पंख लगाने में सक्षम है। इससे सबको समान रूप से गुणवत्तापरक शिक्षा मिलनी सुनिश्चित हो सकेगी। छात्रों में सीखने की प्रक्रिया तेज और अच्छी होगी, शिक्षा की लागत में कमी आएगी और शिक्षकों के समय का बेहतर उपयोग हो सकेगा। इन सबसे अंतत: शैक्षिक उत्पादकता बढ़ेगी।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:12-07-21

सुनियोजित कदम

संपादकीय

फेसबुक के अनुषंगी सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म व्हाट्सऐप ने दिल्ली उच्च न्यायालय को सूचित किया है कि वह तब तक अपनी नई निजता नीति लागू नहीं करेगा जब तक निजी डेटा के संरक्षण को लेकर कानून नहीं बन जाता। इससे संबंधित विधेयक तीन वर्ष से अधिक समय से लंबित है और व्हाट्सऐप की निजता नीति उन कई क्षेत्रों में से एक है जहां कानून की अनुपस्थिति बड़ी चिंता का विषय है। व्हाट्सऐप की सेवा शर्तें अपनी जगह हैं और यह सोशल मीडिया कंपनी अपने उपयोगकर्ताओं को नए नियम स्वीकार करने के लिए उकसाती रहेगी। व्हाट्सऐप ने अक्टूबर 2020 में अपनी सेवा शर्तें बदलने का प्रस्ताव रखा था और इसके अनुपालन के लिए फरवरी 2021 की सीमा तय की थी। कंपनी ने चेतावनी दी थी कि अनुपालन न करने वालों को इस प्लेटफॉर्म का इस्तेमाल नहीं करने दिया जाएगा। नई सेवा शर्तें इस प्रकार तैयार की गई थीं कि कारोबारियों को संचालन में आसानी हो। नई शर्तों के अधीन कारोबारी खाते अपने साथ संपर्क करने वाले निजी, व्यक्तिगत डेटा और मेटाडेटा को साझा कर सकते हैं। इस डेटा को मूल कंपनी फेसबुक के साथ या तीसरे पक्ष के सेवा प्रदाताओं के साथ साझा किया जा सकता है। व्यक्तिगत और कारोबारी खातों के बीच होने वाली चैट यानी बातचीत में एंड टु एंड इनक्रिप्शन जारी रहेगा लेकिन कारोबारी खाते लोकेशन (भौगोलिक स्थिति), बैंकिंग ब्योरा, बिलिंग का ब्योरा, बातचीत की समयावधि आदि साझा कर सकते हैं। चूंकि व्हाट्सऐप का इस्तेमाल स्कूलों की गतिविधियों के लिए भी किया जाता है इसलिए इसमें बच्चों के बारे में संवेदनशील जानकारी भी हो सकती है।नई सेवा शर्तें व्हाट्सऐप की 2016 की प्रतिबद्धता को तोड़ती हैं जिसके तहत उपयोगकर्ताओं के साथ डेटा साझा करने के विकल्प से निकला जा सकता था। यह शर्त यूरोपीय संघ में लागू नहीं हो सकती क्योंकि यह वहां के जीडीपीआर का उल्लंघन करती है। जीडीपीआर दुनिया का सबसे बेहतर और व्यापक डेटा संरक्षण कानून है। अमेरिका में भी यह निजता और डेटा संरक्षण कानून का उल्लंघन होगा। इन सेवा शर्तों का भारत के 53 करोड़ उपयोगकर्ताओं ने भारी विरोध किया जिसके बाद व्हाट्सऐप ने कहा कि अनुपालन अनिवार्य नहीं होगा। यदि व्हाट्सऐप डेटा और मेटाडेटा डेटा और फेसबुक द्वारा सीधे सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म से जुटाए गए मेटा डेटा से संबद्ध हो तो यह कई उपयोगकर्ताओं के जीवन की 360 डिग्री की तस्वीर पेश कर देगा।

हालांकि व्हाट्सऐप ने समझदारी भरा निर्णय लिया है लेकिन अदालत के समक्ष उसकी बात ने सारी जवाबदेही सरकार पर डाल दी है। खेद की बात है कि सरकार 2017 से ही कानून बनाने को लेकर हिचकिचा रही है। उस समय सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि निजता बुनियादी अधिकार है और डेटा संरक्षण कानून होना चाहिए। सेवानिवृत्त न्यायमूर्ति बी श्रीकृष्ण की अध्यक्षता में एक समिति का गठन

किया गया ताकि कानून का मसौदा बन सके। समिति ने जुलाई 2018 में व्यक्तिगत डेटा संरक्षण का मसौदा कानून पेश किया। इसमें कहा गया कि डेटा संग्रह और प्रसंस्करण के हर कदम पर सहमति लेनी होगी। परंतु मसौदा सदन में पेश नहीं किया गया। दिसंबर 2019 में इसका संशोधित मसौदा पेश किया गया जिसे श्रीकृष्ण ने स्वयं इसकी आलोचना की और कहा कि इसमें सरकारी एजेंसियों को निगरानी और डेटा पर एकतरफा अधिकार दिए गए हैं। मसौदा कानून नहीं बन सका और 2019 के बाद से कोई विधेयक नहीं पेश किया गया। हाल में पेश नए आईटी नियम (मध्यवर्ती दिशानिर्देश एवं डिजिटल मीडिया आचार संहिता नियम 2021) भी निजता और अभिव्यक्ति की आजादी का अतिक्रमण करते हैं और उनके समक्ष संवैधानिक आधार पर भी कई चुनौतियां हैं। कानून के अभाव में व्हाट्सऐप नेटवर्क प्रभाव पर निर्भर रह सकता है और उपयोगकर्ताओं को सेवा शर्त मानने के लिए प्रेरित करना जारी रख सकता है। परंतु सरकार ने नागरिकों के बुनियादी अधिकारों की रक्षा के लिए निजता और डेटा संरक्षण कानून नहीं बनाकर हर नागरिक को जोखिम में डाल दिया है।

Date:12-07-21

भाषाई कुलीनतावाद और नया भारत

शेखर गुप्ता

नए केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्री मनसुख मांडविया की अंग्रेजी का ऑनलाइन मजाक उड़ाने का जो सिलसिला चल रहा है, उसमें आप किस ओर हैं? एक पक्ष इन हमलों को मूर्खतापूर्ण, गलत और बड़बोलापन बता रहा है। शुरुआती तौर पर मैं इस पक्ष के साथ हूं। यह मुझे उन बातों की याद दिलाता है जो राज नारायण ने मोरारजी देसाई की जनता सरकार के स्वास्थ्य मंत्री के रूप में लंदन यात्रा के समय कही थीं।

पत्रकारों ने उनसे पूछा था कि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती तो वह मंत्रालय कैसे चलाएंगे? समाजवादी राज नारायण जिनको हम 'असली लालू यादव' कह सकते हैं, ने बिना घबराए जवाब दिया था, 'अरे सब अंग्रेजी जानते हैं हम। मिल्टन-हिल्टन सब पढ़े हैं।' दरअसल उनके देशज तौर तरीकों और अंदाज से पता नहीं चलता था कि उनकी शिक्षा कहां तक हुई है। वह छात्र संघ के नेता, स्वतंत्रता सेनानी और 17 वर्ष की अवस्था से कांग्रेस के सदस्य थे। वह वाराणसी से जनमुख नामक समाचार पत्र प्रकाशित करते थे और राम मनोहर लोहिया के अखबार जन के संपादकीय मंडल में थे। जाहिर है ये अखबार हिंदी में प्रकाशित होते थे। अंग्रेजी भाषा में उनकी कमजोरी उन्हें इंदिरा गांधी को पराजित करने से नहीं रोक सकी। वह भी एक नहीं बल्कि दो बार। दूसरा पक्ष मांडविया के पुराने और खराब अंग्रेजी में लिखे गए ट्वीट्स को अत्यधिक मजाकिया पाता है। इस पक्ष के मुताबिक महामारी के दौरान बतौर भारत के स्वास्थ्य मंत्री उन पर कैसे भरोसा किया जा सकता है? इसके बाद दलील आती है कि नरेंद्र मोदी की भाजपा से आप और क्या आशा करते हैं? भाजपा में प्रतिभा की कितनी कमी है और भाजपा इससे अधिक अहंकार भला क्या दिखा सकती है?

मैं पहले वाले पक्ष में इसलिए हूं और मानता हूं कि ज्यादातर भारतीय इसी तरफ होंगे क्योंकि यह मानना गलत है कि जिसे अंग्रेजी आती है वही शिक्षित, पढ़ालिखा, और बुद्धिमान है। अंग्रेजी से फर्क नहीं पड़ता लेकिन एक मंत्री या सार्वजनिक जीवन में रहने वाले किसी भी व्यक्ति में राजनीतिक समझ, समझदारी, सीखने की क्षमता तथा अपनी टीम में भरोसा पैदा करने की काबिलियत होनी चाहिए।

आज कोई यह याद नहीं करता कि के. कामराज जो भाजपा में अमित शाह के उभार के पहले किसी राष्ट्रीय दल (कांग्रेस, 1963-65) के सबसे ताकतवर अध्यक्ष थे, उन्हें 11 वर्ष की अवस्था में घोर गरीबी और पिता के निधन के कारण स्कूल छोडऩा पड़ा था। उन्हें तमिल आती थी और देश के गरीबों के दिलोदिमाग के साथ उनकी राजनीतिक समझ उन्हें श्रेष्ठ बनाती थी। उनके अंग्रेजी ज्ञान की बात करें तो कह सकते हैं कि वह खुशकिस्मत थे कि ट्विटर उनके समय नहीं था। अंग्रेजी के ज्ञान की महत्ता को कम नहीं आंका जा सकता। भारत में यह सशक्तीकरण की भाषा है। यही कारण है कि लोहियावादियों का सामाजिक कुलीनतावाद के विरोध में अंग्रेजी को खारिज करना गलत था। मुलायम सिंह यादव ने इसे उत्तर प्रदेश में लागू करने का प्रयास किया लेकिन उनके बेटे अखिलेश ने बहुत समझदारी से इससे दूरी बनाई। यही वजह है कि अब योगी आदित्यनाथ और वाई एस जगन मोहन रेड्डी जैसे मुख्यमंत्री अंग्रेजी भाषी शिक्षा को बढ़ावा दे रहे हैं। परंतु किसी भाषा में पारंगत न होने पर अनपढ़ या गंवार कहना गलत है। हम भारतीयों ने भी अंग्रेजी को अपने तरीके से बोलना, लिखना और व्याख्यायित करना सीखा है। रॉबिन राफेल जो अमेरिका की दक्षिण एशियाई मामलों की प्रभारी उप विदेश मंत्री थीं, वह बताया करती थीं कि कैसे नरसिंह राव के कार्यकाल में प्रणव मुखर्जी ने अपनी वॉशिंगटन यात्रा समाप्त की। एक साथी अमेरिकी वार्ताकार ने उनसे कहा कि वह बताएं कि मुखर्जी ने अपनी बांग्ला लहजे वाली अंग्रेजी में क्या कहा। जब उन्होंने प्रणव की बात समझाई तो वह बोले, 'अरे रॉबिन, तुम्हारे भारतीय तो 16 लहजों में अंग्रेजी बोलते हैं।' बात केवल शैली की नहीं है। हमारे देश में अंग्रेजी लिखने और इस्तेमाल करने के भी कई तरीके हैं और मैंने अपनी यात्राओं में इन्हें पकडऩे का प्रयास किया। पहली बार मैं सन 1981 में इंडियन एक्सप्रेस के संवाददाता के रूप में पूर्वोत्तर गया। उस समय जिन पत्रकारों और लेखकों से मिलना उन्होंने मुझे सलाह दी कि अमुक आदमी पर भरोसा मत करना क्योंकि वह 'ट्रबलशूटर' है। मैं समझता कि ट्रबलशूटर तो अच्छा व्यक्ति होगा लेकिन ब्रह्मपुत्र घाटी में यह ट्रबलमेकर यानी संकट खड़ा करने वाले का पर्यायवाची था। बंगाल में अगर आप किसी से पूछेंगे कि अमुक व्यक्ति कहां है तो आपको बताया जाएगा कि वह 'मार्केटिंग' करने गया है यानी खरीदारी करने। पंजाब के अधिकांश कस्बाई इलाकों में यदि आप अपने आपको एडिटर यानी संपादक बताएंगे तो आपको लगेगा कि शायद तवज्जो नहीं मिल रही लेकिन फिर उन्हें समझ आएगा कि आप ऑडिटर (अंकेक्षक) हैं और उनके चेहरे चमक उठेंगे। हम किंग वाली अंग्रेजी बनाम सिंह वाली अंग्रेजी कहकर इसकी चुटकी लेते हैं। स्वर्गीय प्रेम भाटिया ने 1970 के दशक में द ट्रिब्यून का संपादक रहते इस शीर्षक से एक लेख लिखा था।

कहने का अर्थ यह नहीं कि खराब अंग्रेजी का इस्तेमाल अच्छा है। लेकिन अगर आपकी अंग्रेजी अच्छी नहीं है तो आपको एकदम बेकार भी नहीं कहा जा सकता। सही अंग्रेजी को भी सैकड़ों तरह से परिभाषित किया जा सकता है। हर कोई स्कूल के शुरुआती दिनों में अंग्रेजी नहीं सीखता। आप भाषा से खुद को कैसे जोड़ते हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि आपने उसे कैसे सीखा? मैंने अपनी शुरुआती स्कूली शिक्षा उस व्यवस्था में ली जहां अंग्रेजी का अक्षर ज्ञान कक्षा 6 में कराया जाता। उसके बाद शिक्षक तुकबंदी के जरिये तेजी से कुछ शब्द सिखाते। पंजाब से एक उदाहरण इस प्रकार है: पिजन यानी कबूतर, उड़ान यानी फ्लाई, लुक यानी देखो, आसमान यानी स्काई। बेटी-डॉटर, पानी-वॉटर, जयहिंद-नमस्ते, हैलो-हाय। जाहिर है इन का उच्चारण फलाई, सकाई, डाटर और वाटर के भदेस अंदाज में किया गया।

हमने अखबारों, रेडियो बुलेटिन और क्रिकेट कमेंट्री से अंग्रेजी सीखी और समय के साथ सुधार किया। परंतु हम हिंदी माध्यम वाले कभी अंग्रेजी लिखने या बोलने में पूर्ण पारंगत नहीं हो सके। परंतु बदलते भारत के साथ हम आगे बढ़ते गए।

यह महीना आर्थिक सुधारों के तीन दशक पूरा होने का महीना है। वाम आलोचक कहते हैं कि इन सुधारों से देश में कुलीनता की एक नई लहर आई। लेकिन वे गलत हैं। उनमें से अधिकांश खुद पुराने कुलीनों के वारिस हैं जिन्हें आर्थिक सुधारों के बाद आई हिंदी माध्यम वालों की नई पीढ़ी ने पछाड़ दिया।

अचानक कंपनियों और नियोक्ताओं की तादाद बढ़ी और कुशल कर्मियों की मांग में भी इजाफा हुआ। दून स्कूल, सेंट स्टीफंस कॉलेज, ऑक्सफर्ड, केंब्रिज आदि इस मांग को पूरा नहीं कर सकते थे। अचानक पारिवारिक विरासत अप्रासंगिक हो गई। इन बातों का कोई अर्थ नहीं रह गया कि आपका परिवार किस क्लब का सदस्य है। यह परिवर्तन कॉर्पोरेट बोर्ड के सी स्वीट से लेकर स्टार्ट अप, सिविल सर्विस तक और अंग्रेजी कुलीनतावाद के अंतिम किले सशस्त्र बलों तक में आया।

मैं वापस मूल मुद्दे पर लौटता हूं जो राजनीति से संबंधित है और जो हमें बताता है कि मांडविया विवाद हमें इस बारे में क्या सिखाता है। इसके अलावा मोदी से जुड़ी अवधारणा को समझने और उसके विश्लेषण में मुझसे कहां चूक हुई। कुछ समय से कहता रहा हूं कि इसके तीन अहम तत्त्व हैं: एक नया परिष्कृत हिंदूकृत राष्ट्रवाद, भ्रष्टाचार विरोधी योद्धा की छवि और गरीबों तक सक्षम तरीके से कल्याण योजनाओं का लाभ पहुंचाना।एक अन्य अहम कारक है कुलीनतावाद का विरोध। बीते दशकों के दौरान अंग्रेजीभाषी कुलीनों के विरुद्ध एक लोकप्रिय बगावत तैयार हुई। हमारी स्कूली किताबों में बड़े गर्व से बताया जाता था कि नेहरू किस अमीरी में पले बढ़े। अब यह बात किसी को प्रभावित नहीं करती लेकिन चाय वाले की कहानी करती है।

मोदी को कांग्रेस नेताओं का विलोम माना जाता है। देसी बनाम पश्चिमीकृत कुलीन। जब वह लुटियन और खान मार्केट गैंग पर हमला करते हैं तो वह दरअसल मतदाताओं से कह रहे होते हैं कि इन लोगों ने लंबा शासन कर लिया जबकि वे इसके काबिल नहीं थे। यही वजह है कि जब आप मनसुख मांडविया द्वारा महात्मा गांधी को 'नेशन ऑफ द फादर' कहने का मजाक उड़ाते हैं तो आप दरअसल मोदी की बात को मतदाताओं तक मजबूती से पहुंचाते हैं।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:12-07-21

जनसंख्या की चिंता

संपादकीय

अपने देश में क्षेत्रफल के मामले में चौथे स्थान पर और आबादी में अव्वल उत्तर प्रदेश ने अगर जनसंख्या नीति 2021-30 का एलान किया है, तो यह हर तरह से स्वागतयोग्य और अनुकरणीय है। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने रविवार को विश्व जनसंख्या दिवस के मौके जनसंख्या नीति का एलान कर जिस गंभीरता का एहसास कराया है, उसके आलोक में उत्तर प्रदेश अपना भविष्य संवार सकता है। मुख्यमंत्री ने दोटूक स्वीकार किया है कि बढ़ती आबादी विकास की राह में बाधक हो सकती है और इस पर समय-समय पर चिंता का इजहार होता रहा है। हालांकि, कुछ विशेषज्ञ होंगे, जो यह मानेंगे कि आबादी विकास का कारण भी बन सकती है, लेकिन आम तौर ज्यादातर विशेषज्ञ भारत की जमीनी हकीकत के मद्देनजर यही बताएंगे कि जरूरत से ज्यादा आबादी किसी भी राज्य के पांव में बेड़ियां डाल सकती है। उत्तर प्रदेश के साथ यही होता आ रहा है। बढ़ती आबादी ने राज्य के संसाधनों पर जरूरत से ज्यादा दबाव बना रखा है। खासकर दक्षिण भारत के जिन राज्यों ने बेहतर जनसंख्या नीति को अंजाम तक पहुंचाया है, वह आज लाभ देख रहे हैं। उत्तर प्रदेश को भी आगामी दस वर्षों में विकास के मोर्चे पर तेजी से आगे बढ़ते हुए आबादी को संभालना होगा।

आज प्रदेश, देश और दुनिया जिस कठिन दौर से गुजर रही है, चीन इत्यादि कुछ देशों को छोड़कर कहीं भी जनसंख्या बढ़ना खतरे से खाली नहीं है। जनसंख्या स्थिर करना जरूरी है। उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे राज्य आगामी दस साल में जनसंख्या स्थिर भी कर लें, तो

उनके विकास के पैमाने खुशहाली का संकेत देने लगेंगे। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने लगे हाथ जनसंख्या स्थिरता पखवाड़े का उद्घाटन किया है, तो कोई आश्चर्य नहीं। यह प्रदेश सरकार ही नहीं, समाज और आम लोगों को समझ लेना चाहिए कि उनकी गरीबी का एक बड़ा कारण जनसंख्या भी है। उत्तर प्रदेश में वाकई युद्ध स्तर पर प्रजनन दर कम करने की जरूरत है। फिलहाल प्रजनन दर 2.9 है। राज्य सरकार का लक्ष्य इसे कम करके 2.1 पर लाना है, यह लक्ष्य मुश्किल नहीं है। दो बच्चों के बीच अंतर, कुपोषण से मुक्ति, परिवार नियोजन कार्यक्रम के अंतर्गत जारी गर्भनिरोधक उपायों को पहले की तुलना में ज्यादा जनसुलभ बनाने के इंतजाम सुनिश्चित करने पड़ेंगे। जनसंख्या स्थिर करने के लिए सुरक्षित गर्भपात की व्यवस्था, उन्नत स्वास्थ्य सुविधाओं के माध्यम से नवजात व मातृ मृत्यु दर कम करना जरूरी है।

जनसंख्या को कम करने के लिए राज्य सरकार ने शिक्षा पर भी यथोचित ध्यान देने का फैसला लिया है, लेकिन सबसे अहम फैसला नौकरी, पदोन्नति, वेतन वृद्धि और अन्य लाभ के मोर्चे पर लिया गया है। दो या उससे कम बच्चों वाले माता-पिता को नियोजित रूप से सहूलियत देकर बढ़ावा देना कारगर सिद्ध होगा। केवल सरकारी कर्मचारी ही नहीं, प्रदेश के आम लोगों को भी जनसंख्या नियंत्रण में भागीदार बनने पर चिकित्सा सुविधा, पानी, आवास, गृह ऋण आदि करों में छूट जैसे लाभ प्रशंसनीय हैं। अब समाज के हर तबके को सोचना पड़ेगा। दक्षिणी राज्यों में जैसे लोगों ने जागरूकता और एकजुटता से अपने लिए तमाम सुविधाओं को संचालित-प्रबंधित किया है, ठीक वैसा ही करने के लिए उत्तर भारतीयों को भी दृढ़ता और हठ का परिचय देना होगा।

Date:12-07-21

छोटे दुकानदारों की बड़ी चिंता

आलोक जोशी

ऑनलाइन रिटेल या ई-कॉमर्स कारोबार में हंगामा मचा हुआ है। अमेजॉन और फ्लिपकार्ट से लेकर जियो मार्ट और बिग बास्केट तक, सभी परेशान लग रहे हैं। इन सबके बीच खलबली की वजह है, उपभोक्ता मामलों के मंत्रालय की तरफ से जारी ई-कॉमर्स गाइडलाइंस का नया ड्राफ्ट। इसमें इन कंपनियों पर कई तरह की पाबंदियां साफ दिख रही हैं। सरकार की नजर से देखें, तो ये उपभोक्ता के अधिकारों को बढ़ाने वाले नियम हैं, जबकि कंपनियों की नजर से नई नियमावली उनके लिए काम करना ही मुश्किल कर देगी।

हालांकि, कंपनियां इस मामले पर खुलकर कोई बयान देने से कतरा रही हैं, लेकिन वे सरकार के साथ बातचीत में लगातार दबाव बना रही हैं। सरकार ने सभी पक्षों को इस ड्राफ्ट पर अपने सुझाव देने के लिए 6 जुलाई तक का समय दिया था, लेकिन अब इसे दो हफ्ते बढ़ाकर 21 जुलाई कर दिया गया है। अमेजॉन, फ्लिपकार्ट, टाटा समूह, पेटीएम और स्नैपडील जैसी कई बड़ी कंपनियों ने मांग की थी कि सुझाव देने के लिए उन्हें एक महीने का या कम से कम 20 दिन का समय और दिया जाए। ऐसी ही मांग अनेक उद्योग संगठनों की तरफ से भी आई थी।

अमेजॉन और फ्लिपकार्ट के सामने एक दूसरा मोर्चा भी खुला हुआ है। भारतीय प्रतिस्पद्र्धा आयोग ने पिछले साल इन दोनों कंपनियों के खिलाफ जांच शुरू की कि क्या ये अपने प्लेटफॉर्म पर कुछ गिने-चुने व्यापारियों को तरजीह देती हैं, उनके साथ मिलकर गलाकाट दामों की होड़ को बढ़ावा देती हैं और क्या ये फोन कंपनियों के साथ मिलीभगत करके भारी छूट वाली सेल लगाती हैं? दोनों कंपनियों ने इस जांच को अदालत में चुनौती दी है। हालांकि, कर्नाटक हाईकोर्ट ने उनकी अर्जी नामंजूर कर दी, लेकिन उन्होंने इस आदेश के

खिलाफ भी अपील की है। दूसरी तरफ, देश भर के लगभग सात करोड़ छोटे व्यापरियों के लगभग 40,000 संगठनों का महासंघ सीएआईटी इस मामले में जांच के पक्ष में दबाव बनाने में जुटा है। प्रतिस्पद्र्धा आयोग की यह जांच दिल्ली व्यापार महासंघ की शिकायत पर शुरू हुई थी। इस संगठन में दिल्ली के हजारों छोटे-मझोले कारोबारी शामिल हैं। इनकी शिकायत थी कि इन कंपनियों के मनमाने तरीकों से छोटे व्यापारियों को भारी नुकसान हो रहा है।अब जबकि उपभोक्ता कानून में बदलाव पर बहस गरम है, तब यह मामला भी साथ-साथ चर्चा में है। कानून में जो बदलाव होने हैं, उन पर भी विद्वानों में काफी मतभेद है। एक तरफ ऐसे लोग हैं, जो नई गाइडलाइंस में छेद ढूंढ़-ढूंढ़कर सामने ला रहे हैं कि कैसे नई गाइडलाइंस बड़ी कंपनियों के लिए कारोबार मुश्किल कर देंगी और इसका खामियाजा आखिरकार खरीदार को भुगतना पड़ेगा। लॉकडाउन के दौर में ऑनलाइन रिटेलर्स और फूड डिलिवरी कंपनियों ने जो काम किया, उसे देखकर यह तर्क दमदार भी लगता है। अलग-अलग ऑनलाइन कंपनियों के बीच हुए सर्वे से पता चलता है कि इस दौर में उनके पास 50-65 फीसदी तक ऐसे नए ग्राहक आए, जिन्होंने पहली बार कोई ऑनलाइन खरीदारी की है। ऐसे माहौल में बड़ी कंपनियों की शिकायत है कि सरकार उनके कामकाज में बड़ी दखलंदाजी की तैयारी कर रही है।

इसका उदाहरण यह है कि सरकार ने इन वेबसाइटों की फ्लैश सेल पर लगाम कसने की बात कही है। प्लेटफॉर्म चलानेवाली कंपनियां खुद सामान न बेचें और दूसरे व्यापारियों से भेदभाव न करें, यह सुनिश्चित करने को कहा है। यहां तक कि उनके डिलिवरी पार्टनर भी बेचनेवालों के बीच में भेदभाव न करें, यह कहा गया है। लेकिन इसके साथ जो और बड़ा पेच है, वह यह कि इन नियमों में उपभोक्ता और व्यापारी की शिकायतों के निपटारे का इंतजाम मजबूत करने का निर्देश भी शामिल है। इसके लिए उन्हें शिकायत सुननेवाले अधिकारी नियुक्त करने होंगे और अगर सामान बेचनेवाला लापरवाही करता है, तो उसकी गलती का खामियाजा भी भुगतना पड़ सकता है।

देश में ऑनलाइन खरीदारी का कारोबार हर साल 25 फीसदी या उससे ज्यादा रफ्तार से बढ़ रहा है। एक अनुमान है कि 2026 तक यह बाजार करीब 20,000 करोड़ डॉलर या करीब 15 लाख करोड़ रुपये का हो चुका होगा। इतने बड़े और लगातार बढ़ते हुए बाजार पर कब्जे के लिए दुनिया व देश की बड़ी-बड़ी कंपनियों में मुकाबला होना स्वाभाविक है। शायद इसीलिए जरूरी भी है कि सरकार सही समय पर कानूनों में वह बदलाव करे कि भविष्य में पछताना न पड़े। कानून ऐसे होने चाहिए कि किसी को भी शोषण का शिकार न होना पड़े।

कुछ जानकारों का मानना है कि ई-कॉमर्स पर सरकार के नए नियमों में एक बहुत अच्छी बात यह है कि इसमें देशी-विदेशी कंपनियों के बीच कोई भेदभाव नहीं किया गया है। यानी, किस कंपनी में कितना विदेशी पैसा लगा है, इस आधार पर उसके काम करने के तरीके परिभाषित नहीं किए गए हैं। शायद यही वजह है कि इन नियमों से अमेजॉन, वॉलमार्ट के नियंत्रण वाली फ्लिपकार्ट, सॉफ्टबैंक की हिस्सेदारी वाली स्नैपडील, अलीबाबा की हिस्सेदारी वाली पेटीएम के साथ-साथ टाटा समूह की बिग बास्केट और रिलायंस का जियो मार्ट एक साथ ही प्रभावित होते हैं। इसका अर्थ है कि ये नियम एक तरह से भारत की एक समग्र ई-कॉमर्स पॉलिसी की बुनियाद रख सकते हैं, जबकि विदेशी निवेश का फैसला सरकार अलग से कर सकती है और उस पर अलग नीति भी बन सकती है।

इस विवाद के बीच सरकार की तरफ से यह सफाई भी आई है कि वह कंपनियों के कामकाज पर बेवजह लगाम कसने का इरादा नहीं रखती है। उसने यह भी साफ किया है कि सिर्फ ऐसी फ्लैश सेल पर पाबंदी लगाने का उसका इरादा है, जिसमें किसी खास कंपनी के ही उत्पाद बहुत ज्यादा छूट पर बेचकर बड़ी संख्या में लोगों को अपनी तरफ खींचने का इरादा दिखता है। इसके साथ ही सरकार ने जो सूचना जारी की है, उसमें कहा गया है कि कंपनियों के खिलाफ बड़ी संख्या में धोखाधड़ी और गड़बड़ियों की शिकायतें मिलने के बाद नए नियम लाए गए हैं। हालांकि, सरकार ने यह नहीं बताया कि किस कंपनी के खिलाफ शिकायतें मिली हैं?

अभी कंपनियां भी नियमों को पढ़ने में जुटी हैं और जानकार भी। इनमें फेरबदल की गुंजाइश भी बाकी है। लेकिन इतना तय है कि इस कारोबार में बहुत बड़ी-बड़ी कंपनियों की दिलचस्पी है। और, जिस तरह देश के सबसे बड़े रिटेलरों में से एक फ्यूचर ग्रुप को कारोबार बेचने पर मजबूर होना पड़ा, उसे देखते हुए सरकार की जिम्मेदारी है कि वह ग्राहकों और छोटे दुकानदारों के संरक्षण के लिए पूरी सावधानी से फैसला करे।

Date:12-07-21

हत्यारे ड्रोन जब समूह में उड़कर खतरा बनेंगे

विवेक वाधवा, (फेलो, कार्नेगी मेलन यूनिवर्सिटी)

टर्मिनेटर शृंखला की फिल्मों में एक अथक सुपर-रोबो ने इंसानी लक्ष्यों का पीछा किया था और उन्हें ठिकाने लगाने की कोशिश की। कुछ दशक बाद ही वैसे हत्यारे रोबो खुलेआम बेचे जा रहे हैं और युद्ध के मैदान में तैनात भी किए जा रहे हैं। ये हत्यारे रोबो- उड़ने वाले ड्रोन- सस्ते हैं। पाकिस्तानी आतंकियों ने जम्मू में भारतीय वायु सेना स्टेशन पर जिन चीन निर्मित ड्रोनों का इस्तेमाल किया, वे काफी विनाशकारी थे। नई पीढ़ी के ड्रोन बड़ा खतरा बन गए हैं। ये चेहरे की पहचान और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) के आधार पर खास लक्ष्यों का स्वायत्त रूप से पीछा कर सकते हैं और मार सकते हैं। ऐसे हत्यारे ड्रोन का आना व तेजी से प्रसार आश्चर्य की बात नहीं। दशकों से उपभोक्ता प्रौद्योगिकी सैन्य प्रौद्योगिकियों से भी आगे निकलने लगी है। आज ड्रोन व्यावसायिक अवसर पैदा करने लगे हैं। ड्रोन अब आपके दरवाजे पर किराने का सामान व चिकित्सा आपूर्ति कर सकते हैं। खतरा यह है कि एआई के जरिये मानव-सदृश संज्ञानात्मक क्षमताओं वाले ड्रोन दुष्ट उग्रपंथियों, आतंकवादियों और उग्र किशोरों को शक्तिशाली हथियार उपलब्ध करा सकते हैं। और जब तक हम इसे रोकने के लिए कदम नहीं उठाएंगे, तब तक सस्ते ड्रोन को भी हत्यारे ड्रोन में बदलने के निर्देश इंटरनेट पर पोस्ट हो जाएंगे।

एआई के मोर्चे पर वस्तुओं और चेहरों की सटीक पहचान के लिए खूब जद्दोजहद से गुजरना पड़ा है, पर किसी भी वस्तु से लिखे हुए शब्द को जोड़ दिया जाए, तो ड्रोन को भ्रमित किया जा सकता है। एक छवि पहचान प्रणाली, जिसे सेब को एक फल के रूप में पहचानने के लिए प्रशिक्षित किया गया है, लेकिन उस सेब को आइपॉड बताने के लिए चालाकी की जा सकती है, इसके लिए एक कागज के टुकड़े पर आइपॉड लिखकर उस सेब पर चिपका देना पर्याप्त है। हांगकांग में प्रदर्शनकारियों ने चेहरे की पहचान की सरकारी कोशिशों को नाकाम करने के लिए अपने चेहरे पर पेंट का इस्तेमाल किया था। कोहरे, बारिश, बर्फ और तेज रोशनी जैसे पर्यावरणीय कारक भी ड्रोन को भ्रमित कर सकते हैं। यह ज्ञान सुरक्षा बलों को अपेक्षाकृत सरल प्रतिवाद की क्षमता दे सकता है।

बहरहाल, लक्ष्यों को तबाह करने में ड्रोन की प्रभावशीलता सामूहिक विनाश के नए हथियार के रूप में उनकी तैनाती को सक्षम बना रही है। हमें सावधान रहना चाहिए। खेल-खेल में भी ड्रोन का समूह लोगों को मार सकता है और इसे रोकना मुश्किल होगा।

वैसे विभिन्न कंपनियां अब उड़ने वाली नकली चीजों को रोकने के लिए ड्रोन काउंटर-मेजर सिस्टम बेच रही हैं, और सेनाओं ने ड्रोन की नियंत्रण प्रणालियों को बाधित करने के लिए पहले से ही कुछ इलेक्ट्रॉनिक रक्षा उपकरण तैनात कर रखे हैं। लेकिन अभी तक ड्रोन को मौके पर मार गिराना चुनौती बना हुआ है। इजरायल ने हाल ही में उड़ने वाले प्रभावी लेजर का प्रदर्शन किया है, जो ड्रोन को नष्ट कर सकता है, लेकिन ड्रोन अगर समूह में आए, तो उन्हें मार गिराना अभी हमारी क्षमता से परे है। भारत कथित तौर पर दुनिया के सबसे

उन्नत रक्षात्मक हथियारों में से एक इजरायली एंटी-ड्रोन सिस्टम खरीदना चाहता है, लेकिन यह सिस्टम भी समूह में होने वाले हमले से नहीं बचा सकता।

ऐसी आशंकाओं के खिलाफ रक्षा तंत्र स्थापित करने में सक्षम होने के लिए भारत को अपने वैज्ञानिकों को युद्ध स्तर पर तैनात करना होगा। भारत के पास कौशल है और उसे विदेश की ओर देखने की जरूरत नहीं है; यहां तक कि भारतीय किशोर भी ड्रोन असेंबल कर सकते हैं और परिष्कृत एआई सिस्टम तैयार कर सकते हैं। रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन के पास ड्रोन विकास की कुछ प्रणालियां हैं, पर सरकार को अनुसंधान व स्टार्टअप के लिए पर्याप्त धन खर्च करना चाहिए। रक्षा प्रौद्योगिकी के विकास को राष्ट्रीय प्राथमिकता बनाने की जरूरत है।

कोविड-19 की आशंका के बावजूद भारत आत्म-संतुष्ट था। हम लंबे समय से जेनेटिक इंजीनियरिंग के खतरों व प्रयोगशालाओं में दुर्घटनाओं की आशंका से वाकिफ थे, फिर भी हमने चीन के लापरवाह शोध को नहीं रोका या इसके खिलाफ जैव-रक्षा कवच तैयार नहीं किया। पूरी दुनिया आत्म-संतुष्ट थी, पर कृत्रिम रूप से बुद्धिमान हत्यारे ड्रोन के विकास का अनुमान लगाने में विफल रहने के लिए यह कोई बहाना नहीं है।